अङ्क-२७
जनवरी-जून २०१६

वेदविद्या
ISSN-२२३०-८९६२

वैदिकवाङ्मय में योगविज्ञान

प्रो. ओम्प्रकाश पाण्डेय

विश्व भर में आयोजित योग-दिवस ने भारतीय योग-विज्ञान की उपादेयता को अत्यन्त व्यापक पटल पर उजागर कर दिया है। इसके साथ ही, यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि अन्य प्राकृतिक और सामाजिक-विज्ञानों के सदृश योगविज्ञान का भी बृहत्तम स्रोत वैदिक-वाङ्मय ही है।

वेद में यज्ञसंस्था के समानान्तर, अन्य अनेक साधनाओं के समानान्तर, अन्य अनेक साधनाओं के भी अस्तित्व के प्रमाण प्राप्य हैं। ये व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक-विकास में उतनी ही सहायक रही हैं, जितना यज्ञानुष्ठान। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से निष्पन्न है, जिसका प्रयोग अनेक वेद-मन्त्रों में परिलक्षित होता है। ऋषि श्यावाश्य आत्रेय ने एक ऋङ्मन्त्र में इसी धातु के माध्यम से उन प्रबुद्ध योग-साधकों का विवरण सँजोया है, जो अपने मन और बुद्धि को यौगिक-क्रियाओं के माध्यम से परम तत्त्व के सन्धान में लगाते हैं-

'यु॒ञ्जते॒ मन॑ उ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑।' (ऋग्. सं. ५.८१.१; वाज. सं. ५.१४; तैत्ति.आर. ४.२.१)

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि ऋषि, कवि योग-साधना से अपने को अनेक सिद्धियों का आस्पद बना रहा है – **'विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः।'** (ऋग्. सं. ५.८१.२)

ऋषि मेधातिथि काण्व की धारणा है कि कोई यज्ञानुष्ठाता कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, लेकिन जब तक वह योग-साधना से बुद्धि को वश में नहीं कर लेता, अथवा मानसिक-शक्तियों को जाग्रत नहीं कर लेता, तब तक उसका यज्ञानुष्ठान भी सिद्ध नहीं होता है-

'यस्मा॑दृते न सिध्य॑ति, य॒ज्ञो॑ वि॑प॒श्चित॑श्चन ।
स धी॒नां योग॑मिन्वति (ऋ.सं. १.१८.७)

इस मन्त्र में 'योग' शब्द का सुस्पष्ट प्रयोग ही नहीं है – उसे मानसिक या बौद्धिक शक्तियों के साथ भी सम्बद्ध किया गया है ।

वाज. संहिता के एक मन्त्र में ऋषि का कथन है कि मैं मनन अथवा मनरूपी घृत से चेतनारूपी अग्नि में होम करता हूँ, जिससे सत्य को संवर्धित करने वाली प्रकाशमयी दैवी शक्तियों का अवतरण हो सके –

'चित्तिं॑ जुहोमि॒ मन॑सा घृ॒तेन॒ यथा॑ दे॒वा इ॒हागम॑न् वी॒तिहो॑त्रा ऋता॒वृधः ।
पत्ये॒ विश्व॑स्य॒ भूम॑नो जु॒होमि॑ वि॒श्वक॑र्मणे वि॒श्वाहाऽदा॑भ्यं हविः ॥ (१७.७८)

यह यज्ञ द्रव्यात्मक नहीं है, यौगिक है, जिसमें घृत मानसिक निर्मलता और प्रकाश का द्योतक है, यह चेतना के विशिष्ट प्रकटीकरण का प्रतीक है।

ऋषि मैत्रावरुणि वसिष्ठ ऐसी यौगिक-साधना में संलग्न प्रतीत होते हैं, जिससे योग के द्वारा परकाया-प्रवेश में नैपुण्य अर्जित कर अपने शरीर से वरुण के अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होकर संवाद कर सकें- **'उ॒त स्वया॑ तन्वा॒३सं व॑दे॒ तत् क॒दान्वन्तर्व॑रुणे भुवानि॥**

(ऋग्.सं. ७.८६.२; वाज. सं. ५.१४; तैत्ति.आर. ४.२.१)

ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में अणिमादि सिद्धियों का सङ्केत सुलभ है- **'इन्द्रो॑ मा॒याभिः॑ पुरु॒रूप॑ ईयते यु॒क्ता ह्य॑स्य॒ हर॑यः श॒ता दश॑'** (ऋ.सं. ६.४७.१८)।

ऋभुओं ने योग-साधना की आर्भवीविद्या का विकास किया था। इन बुद्धिमान् ऋषियों ने मन के विकास के लिए देवों की मित्रता अर्जित कर ली थी- अपने वृद्ध माता-पिता को पुनर्यौवन प्रदान किया था, योग-साधना के बल पर देवत्व या अमरत्व- लाभ किया था, अपने सुकृतों के कारण इनकी गणना देवश्रेणी में होने लगी थी।[1]

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों की योगपरक व्याख्या की है । ये हैं –

'यु॒ञ्जान॒ः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धियः॑।
अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑रत ॥[2]

(तत्त्वज्ञान के लिए योग- साधना में संलग्न जो साधक अपने मन को संयमित कर लेता है, उसकी बुद्धि को सविता (प्रेरक परमात्मा) अपने से जोड़ लेता है। वह योगी परमात्मा की ज्योति का साक्षात्कार करके उसे अपने भीतर समाविष्ट कर लेता है।)[3]

इस क्रम का अन्य मन्त्र है –

युक्तेन॒ मन॑सा व॒यं दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे।
स्व॒र्ग्याय॒ शक्त्या॑ ॥ (यजु. ११.२)

योगयुक्त मन से हम, आनन्दप्राप्ति के निमित्त सर्वान्तर्यामी परमात्मा के ध्यान में अपने को यौगिक सामर्थ्य बढ़ाते हुए लगाये रखें।

इसी क्रम के एक मन्त्र में 'युत्त्वाय' के रूप में यौगिक-प्रक्रिया का निर्देश है –

यु॒त्त्वाय॑ सवि॒ता दे॒वान् स्व॑र्य॒तो धि॒या दिव॑म् ।
बृ॒हज्ज्योतिः॑ करिष्य॒तः स॑वि॒ता प्रसु॑वाति तान् ॥ (यजु. ११.४)

---

[1] (क) दे॒वाना॒मुप॑ स॒ख्यमा॑यन् धीरा॑सः पु॒ष्टिम॑वहन् म॒नायै॑
(ख) पुन॒र्ये च॒क्रुः पि॒तरा॒ युवा॑ना॒ सना॒ यूपे॑व जर॒णा शया॑ना। (४.३३.३)
(ग) स॒त्यमू॑चु॒र्नर॑ ए॒वा हि च॒क्रुः (जो कहा, वही किया)।
(घ) पितरा युवाना अकरा;
(ङ) सुकृत्या देवासोऽभवत् ।

[2] यजु. ११.१

[3] यहां प्रदत्त अनुवाद महर्षिकृत न होकर, उनकी प्रक्रिया के अनुसार लेखक-कृत है।

इसका अभिप्राय है, योगियों को सविता (परमात्मा) सदैव अपना अनन्त प्रकाश बिखेरकर आनन्दित करता है।

ऋग्वेद के दशममण्डल में सात मन्त्रों का एक सूक्त (ऋ.सं. १०.१३६) है। इसमें वायु पर नियन्त्रण करने वाले (वातरशना) सात मुनियों का विवरण है। ये हैं – जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिक्रत, एतश तथा ऋष्यश्रृङ्ग। सूक्त के प्रथम मन्त्र में ’केशी’ नाम से रश्मियों के रूप में केशधारी सूर्य अथवा वायु का वर्णन है, जो अग्नि, विष तथा द्यावापृथिवी को धारण करता है। यह ऐसी ज्योति है, जो सम्पूर्ण विश्व को आलोकित करती है। ’वातरशना मुनयः’ का शब्दशः उल्लेख दूसरे मन्त्र में है, जो पीले रंग के और मलिन वस्त्र धारण करते हैं। ये वायु की गति का अनुगमन करते हुए प्राणोपासना के माध्यम से देवत्व की उपलब्धि कर रहे हैं-

‘मुन॑यो॒ वात॑रशनाः पि॒शङ्गा॑ वसते॒ मला॑। वात॒स्यानु॒ ध्राजिं॑ यन्ति यद्दे॒वासो॒ अवि॑क्षत ।’

इनका कथन है कि ’समस्त लौकिक व्यवहारों को त्यागकर मुनिवृत्ति से रहने वाले हम परम आनन्द से युक्त और वायुरूप को स्वीकार करने वाले हैं।

‘उन्म॑दिता॒ मौने॑ येन वाताँ॒ आ त॑स्थिमा व॒यम्।’

अगले मन्त्र में कहा गया है कि द्रष्टा मुनि सबको अपने तेज से प्रकाशित करते हुए सभी के मित्र और हितकारी के रूप में आकाश-मार्ग से सञ्चरण करता है। वह मात्र सुकृतों के निमित्त समर्पित है। वह वायु के समान गमनशील, वायु का मित्र और वायुसेवी ऐसा मुनि है, जिसके सामीप्य की कामना देवता सहित सभी करते हैं।[४] वह समस्त विषयों का ज्ञाता है।

इस सूक्त में सन्दर्भित वेदोक्त योग-साधना जीवन से उदासीन लोगों की अभ्यास-क्रिया नहीं प्रतीत होती है। यह तो जीवन में आनन्द का मर्यादित उपभोग करने वालों तथा नाती-पोतों के साथ प्रमुदित होने वालों की है, जैसाकि अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में निरूपित है-

आ॒न॒न्दा मोदाः॑ प्र॒मुदोऽभीमोद॒मुद॑श्च॒ ये।
ह॒सो न॒रिष्टा॑ नृ॒त्तानि॒ शरी॑र॒मनु॒ प्रावि॑शन्॥
आ॒ला॒पाश्च प्र॒ला॒पाश्चा॑भीला॒प॒लप॑श्च॒ ये ।
शरी॑रं॒ सर्वे॒ प्रावि॑शन्नायुजः॑ प्र॒युजो॒ युजः॑ ॥(ऋषि कौरुपथि, अथर्व. सं. ११.८.२४-२५)

उपर्युक्त मन्त्रों में आये ’शरीरमनुप्राविशन्’ ध्यान की गहरी स्थिति का द्योतक है। ’अयुजः’, ’प्रयुजः’, ’युजः’ शब्द योग साधना में संलग्न विभिन्न श्रेणियों के साधकों के उपलक्षक हैं।

---

[४] अ॒न्तरि॑क्षेण पतति॒ विश्वा॑रू॒पाव॒चाक॑शत्।
मुनि॑र्दे॒वस्य॑ देवस्य॒ सौकृ॑त्याय॒ सखा॑हितः॥
वात॒स्याश्वो॑ वा॒योः सखाऽथो॑दे॒वेषि॑तो॒ मुनिः॑॥ (ऋ.सं. १०.१३६)

इसी प्रकार का कथन महायोगी श्रीगोरखनाथ का है, जो पूर्णतया वैदिक दृष्टिकोण का पुरोवर्तक है-

हाँसिबा षेलिबा रहिबा संग, काम-क्रोध न करिबा संग।
हँसिबा षेलिबा गाइबा गीत, दिढ कर राषि आपना चीत ।
हँसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान, अहनिसि कथिबा ब्रह्मगियान ।
हँसै षेलै न कर मने भंग, ते निश्चल सदा नाथ कै संग। (गोरखबानी, सबदी, पृष्ठ ३-४)

अथर्ववेद के कुन्तापसूक्त (२०.१३६.१६) गत एक मन्त्र में कुण्डलिनी – जागरण की प्रक्रिया का भी सङ्केत है –

यः कु॑मा॒री पिङ्गलि॒का वस॑न्तं पीव॒री लभेत् ।
तैल॑कुण्ड॒मिमा॑ङ्गु॒ष्ठं रोद॑न्तं शुद॒मुद्धरेत् ॥

'कुमारी पिङ्गलिका' पद इड़ा और पिङ्गला नाडियों के द्योतक हैं। इनके द्वारा जो योगाभ्यासी प्रकाशमान ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाता है, वह तैलकुण्ड अर्थात् अमृतकलश के समान अङ्गुष्ठप्रमाण जीव का उद्धार कर लेता है।

तैत्तिरीयब्राह्मण (३.११) के छह अनुवाकों में वर्णित नाचिकेत अग्नि-चयन का मुख्य उद्देश्य लोकजय अर्थात् सर्वात्मभाव के द्वारा चेतना का क्रमिक विकास है। वेदोक्त इड़ा, भारती और सरस्वती नदियों का मात्र भौगोलिक था भौतिक स्वरूप ही नहीं है- ये इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना के सदृश चेतना के महाप्रवाह की नाडियाँ भी हैं।

अथर्ववेद के केनसूक्त में एक निश्चल (अथर्वा) योगी का वर्णन है, जो अपने हृदय और सिर को सीधा रखते हुए प्राण को सिर के मध्य, मस्तिष्क के ऊपर ले जाता है-

मू॒र्धान॑मस्य सं॒सीव्याथ॑र्वा॒ हृद॑यं च॒ यत् ।
म॒स्तिष्का॑दू॒र्ध्वः प्रैर॑य॒त् पव॑मा॒नोऽधि॑ शीर्ष॒तः ॥ (अथर्व.सं. १०.२.२६)

इसी सूक्त के ३१ वें मन्त्र में मानव – देह को देवनगरी अयोध्या कहा गया है, जिसमें आठ चक्र और नौ द्वार हैं। यह तेज से पूर्ण आनन्दमय कोश से युक्त है –

अ॒ष्टाच॑क्रा॒ नव॑द्वारा दे॒वानां॒ पूर॑यो॒ध्या ।
तस्यां॑ हिर॒ण्ययः॒ कोशः॑ स्व॒र्गो ज्योति॒षाऽऽवृ॑तः ॥

योगाभ्यासपूर्वक इसी तेजोमय कोश में ब्रह्मज्ञानी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में योग के यम-नियमों का समावेश दीक्षित यजमान के द्वारा पालनीय विधियों में है। प्राण के महत्त्व का आकलन तो मन्त्र-संहिताओं में ही है[5], लेकिन ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों

---

[5] प्रा॒णाय॒ नमो॒ यस्य॒ सर्व॑मिदं वशे॑। यो भू॒तः सर्व॑स्येश्व॒रो यस्मि॒न् सर्वं॒ प्रति॑ष्ठितम् ॥ अथर्व.सं. ११.४.१

में उसका विस्तृत विवेचन है।[६] वाक्, मन और प्राण की प्रतिष्ठा का आग्रह भी संहिताओं में है, लेकिन उपनिषदों में इस त्रिक को साधते हुए, इसके आगे भी जाने का विवरण है। प्राण का भी प्राण है ब्रह्म, जो सर्वोपरि है।

'अपाम सोमममृता अभूम' (हमने सोम-पान किया, हम अमर हो गये) में केवल द्रव्यात्मक सोम ही विवक्षित नहीं है। इसमें शक्ति और शक्तिमान् के सामरस्य का भी सङ्केत है।

ऋग्वेद के 'चत्वारि शृङ्गा०' मन्त्र की व्याख्या यदि योग के सन्दर्भ में की जाये, (पहले यज्ञ, व्याकरण और काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में इसकी व्याख्याएँ की जा चुकी हैं), तो वह इस प्रकार हो सकती है-

चत्वारि शृङ्गाः = मन्त्रयोग,राजयोग, लययोग और हठयोगसञ्ज्ञक योग के चार शिखरस्थ प्रभाग ;
त्रयो अस्य पादाः = साध्य, साधन और साधक – ये तीन पाद ;
द्वे शीर्षे = प्रशिक्षक गुरु और अभीष्ट लक्ष्य
सप्त हस्तासः = यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ;
त्रिधा बद्धः = साधना-हेतु प्रातः, मध्याह्न और सायङ्काल;
वृषभः = योगी की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला ।

अभिप्राय यह है कि वैदिकवाङ्मय में आरम्भ से ही योग-साधना के साक्ष्य उपलब्ध हैं। मैत्रायणी-उपनिषद् से ज्ञात होता है कि पहले योग के छह अङ्ग थे –

'तथा तत्प्रयोगकल्पः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्ग इत्युच्यते योगः' (६.१८) ।

मैत्रायणी - उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में योग-साधना का विशद विवरण है। योग की अन्य परवर्ती उपनिषदें भी हैं, लेकिन मैत्रायणी का महत्त्व सर्वोपरि है। इसी कारण इस पर मधुसूदन सरस्वती के गुरु श्रीरामतीर्थ ने 'दीपिका' नाम्नी व्याख्या का प्रणयन किया। यह उपनिषद् चित्त को ही संसार मानकर उसके शोधन पर विशेष बल देती है –

'चित्तमेव हि संसारं तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।' (मैत्रायण्युपनिषद्, षष्ठप्रपाठकः, ३४)

चित्त की प्रसन्नता से, शुभाशुभ कर्मों का नाश होता है, आत्मा प्रसन्न होकर आत्मस्थ हो जाती है और अक्षय सुख की प्राप्ति होती है –

---

[६] अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्- प्रश्नोपनिषद् २.१६; इमे सप्त लोकाः येषु चरन्ति- प्राणाः – मुण्डक उप. ०२.१.८; वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् – ऐत.उप. । प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒म्, मनो॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒म्, आ॒त्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒म् – यजु. १८.२९;

'चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥ (मैत्रायण्युपनिषद्, षष्ठप्रपाठकः, २०)

मन को लौकिक विषयों में खो जाने तथा इधर-उधर भटकने से बचाकर एवं सुस्थिर करके साधक जब मन के प्रभाव से रहित स्थिति (अमनीभाव) को प्राप्त कर लेता है, तो वही मन उसका परम पद हो जाता है। हृदय में मन को तब तक रोकना चाहिए, जब तक उसका प्रभाव समाप्त न हो जाये। मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार यही तत्त्वज्ञान है और यही मोक्ष है । इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, वह सब विस्तार मात्र है-

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥
तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद् गतक्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषान्ये ग्रन्थविस्तराः ॥ (मैत्रायण्युपनिषद्, षष्ठप्रपाठकः, ३४)

महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगसूत्र (१.४७-४८) में इसीका समर्थन करते हैं-

'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।

प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय
बी-१/४, विक्रान्तखण्ड, गोमतीनगर,
लखनऊ, २२६०१०